मैं एकाकी हूँ, शरीर से भिन्न हूँ, आत्मा हूँ।

अखंड ज्योति मार्च 1972

शरीर मेरा है,मेरे लिए है,मैं शरीर नहीं हूँ। यह छोटी-सी सच्चाई यदि समय रहते समझ में आ गई होती तो कितना अच्छा होता। तब "मनुष्य जीवन" जैसे सुर-दुर्लभ सौभाग्य का लाभ लिया गया होता लेकिन अब क्या हो सकता है। अब तो पश्चाताप ही बाकी रह गया है। भूल भरी मूर्खता के लिए न जाने कितने लम्बे समय तक रुदन करना पड़ेगा।

लगभग एक वर्ष पूर्व मई 2024 में ऑनलाइन ज्ञानरथ गायत्री परिवार के मंच पर परम पूज्य गुरुदेव की प्रथम पुस्तक “मैं क्या हूं?” पर आधारित 23 ज्ञानप्रसाद ले खों की अद्भुत लेख श्रृंखला प्रस्तुत की गयी, मात्र 48 पृष्ठों की नन्हीं सी पुस्तक इतनी दिव्य है कि गुरुदेव ने हमें 23 Full length लेख लिखने का सौभाग्य प्रदान कर दिया।

अखंड ज्योति 1972 के मार्च अंक में प्रकाशित लेख “ क्या मैं शरीर ही हूँ-उससे भिन्न नहीं? देखने में गुरुदेव की पुस्तक जैसा लग रहा है लेकिन ऐसा है नहीं।

आगे आने वाला कंटेंट स्वयं ही इस तथ्य की पुष्टि कर देगा, ऐसा हमारा विचार है।

मैं क्या हूँ? मैं कौन हूँ? मैं क्यों हूँ? इस छोटे से प्रश्न का सही समाधान न कर सकने के कारण “मैं” को कितनी विषम विडम्बनाओं में उलझना पड़ता है, दुर्गतियों में संत्रस्त होना पड़ता है । यदि समय रहते इस “मैं” को समझ लिया जाता तो हम वह न रहते, जो आज हैं। वह न सोचते जो आज सोच रहे हैं। वह न करते जो आज कर रहे हैं।

हम इतने बुद्धिमान हैं कि धरती और आकाश का चप्पा-चप्पा छान डाला एवं प्रकृति के अनेकों रहस्यों को प्रत्यक्ष करके रख दिया। मनुष्य की यह बुद्धिमत्ता जितनी प्रशंसनीय है उससे कहीं निंदनीय है कि उसने सब कुछ तो जान लिया लेकिन स्वयं को पहचाना ही नहीं, उस “मैं” का सदैव तिरस्कार ही किया।

मनुष्य जिस काया को शरीर समझता रहा है क्या वोह यही “मैं” है ? क्या कष्ट, चोट, भूख, शीत, गर्मी आदि से पग-पग पर व्याकुल होने वाला, अपनी सहायता के लिए दर्जी, किसान, रसोइया, चर्मकार, चिकित्सक आदि पर निर्भर रहने वाला ही “मैं” हूँ? दूसरों की सहायता मिले बिना जिसके लिए जीवन धारण कर सकना असंभव हो, जिसकी सारी हँसी-खुशी और प्रगति दूसरों की कृपा पर निर्भर हो, क्या वही असहाय, असमर्थ, “मैं” हूँ? क्या मेरी आत्मनिर्भरता कुछ भी नहीं है? यदि यह शरीर ही “मैं” हूँ तो निस्सन्देह हमें स्वयं को सर्वथा पराश्रित और दीन, दुर्बल ही माना जाना चाहिए। जो लोग बड़े गर्व में आकर, यह कहते हुए डींग मारते हैं “तुम्हें पता नहीं मैं कौन हूँ ?” पूर्णतया गलत हैं क्योंकि मनुष्य तो दुर्बल/पराश्रित है।

अभी-अभी तो पैदा हुआ, खेल-कूद, पढ़ने-लिखने में बचपन चला बीत गया । फिर युवा हुआ, नशीला यौवन आया जिसके पागलपन ने आँखों में, दिमाग में ऐसी चंचलता और अतृप्ति बनाई रखी कि अनेकों हवाई किले बनते/गिरते रहे। अब ढलती उम्र दस्तक दे रही है। शरीर ढलने-गलने लगा है । इन्द्रियाँ जवाब देने लगी है। वर्षों के कठिन परिश्रम द्वारा उपार्जित राजसी ठाठ-बाठ,शौर्य, सत्ता अब बेटों-पोतों के हाथ जाने लगी है। जीवन के इस पड़ाव में अनुभव होने लगता है मेरा जीवन एकउपेक्षित और निरर्थक जैसा बनकर रह गया है। जिस काया पर कल तक गर्व किया जाता था, घंटों शीशे से सामने जुल्फें संवारी जाती थीं,आज वही काया भारी महसूस हो रही है। आँखों में मोतियाबिन्द, कमर-घुटनों में दर्द, खाँसी,अनिद्रा जैसी व्याधियाँ मनुष्य को एक ऐसे घायल गधे का अनुभव दे रही हैं जिस पर कौए आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। ऐसा डरावना दृश्य देखने को तो क्या, सोचने को भी जी नहीं चाहता, फिर भी वह घिनौना सच तो सच ही है। जब भी यह सच एक क्षण के लिए भी आँखों के सामने आ खड़ा होता है तो रोम-रोम काँपने लगता है। लेकिन उस

अवश्यंभावी भाग्य से बच पाना कहाँ संभव है ? जीवित रहना है तो इसी दुर्दशा ग्रस्त स्थिति में पिसना पड़ेगा। बच निकलने का कोई रास्ता है ही नहीं।

क्या यही "मैं" हूँ? क्या इसी निरर्थक विडम्बना के कोल्हू के चक्कर में पिसने के लिए ही मैंने दुर्लभ मनुष्य जन्म लिया ? क्या जीवन का यही स्वरूप है? क्या मेरा अस्तित्व बस इतना ही है?

आत्म चिन्तन कहेगा-नहीं-नहीं-नहीं। आत्मा इतना छोटा और हीन नहीं हो सकता। आत्मा इतना अपाहिज, असमर्थ, पराश्रित एवं दुर्बल कैसे हो सकता है ?

यह तो प्रकृति के पराधीन पेड़-पौधों जैसा, मक्खी, मच्छरों जैसा जीवन हुआ। क्या इसी को लेकर-मात्र जीने के लिए मैंने जन्म लिया? सो भी जीना ऐसा जिसमें न चैन, न खुशी, न शान्ति, न आनन्द, न सन्तोष। यदि आत्मा सचमुच परमात्मा का अंश है तो वह ऐसी निम्न स्थिति में पड़ा रहने वाला हो ही नहीं सकता। नास्तिकों के प्रतिपादन के अनुसार या तो पाँच तत्वों के प्रवाह में एक

‘भंवर जैसी बबूले जैसी क्षणिक काया लेकर उपज पड़ा हूँ और अगले ही क्षण अभाव की विस्मृति गर्त में समा जाने वाला हूँ यां फिर कुछ और हूँ जो इतना तुच्छ और अपंग हूँ जिसमें उल्लास और सन्तोष जैसा गर्व और गौरव जैसा कोई तत्व नहीं है।

यदि “मैं” केवल शरीर हूँ तो अपने लिए एवं इस धरती के लिए भार हूँ । पवित्र अन्न खाकर घृणित मल-मूत्र में परिवर्तन करते रहने वाले, अरबों-खरबों छिद्रों वाले इस कलेवर से दुर्गन्ध और मलीनता फैलाने वाला अछूत-घिनौना “मैं” हूँ । यदि “मैं” केवल शरीर हूँ तो इससे अधिक मेरी सत्ता होगी भी क्या?

यदि “मैं” शरीर हूँ तो मेरा अन्त क्या है? लक्ष्य क्या है? परिणाम क्या है?

मृत्यु-मृत्यु-मृत्यु। कल नहीं तो परसों वह दिन तेज़ी से आँधी-तूफान की तरह उड़ता उमड़ता चला आ रहा है, जिसमें आज की मेरी यह सुन्दर सी काया,जिसे मैंने अत्यधिक प्यार किया, प्यार क्या मैं तो पूरी तरह इसी को

समर्पित हो गया, इसी काया में घुल-मिल गया। अब वह मुझसे विलग हो जायगी, विलग ही नहीं अस्तित्व भी

गँवा बैठेगी। काया में घुला "मैं"-मौत के एक ही थपेड़े में कितना कुरूप,कितना विकृत, कितना निरर्थक, कितना घृणित हो जाऊंगा कि और तो और, मेरे प्रिय परिजन भी कुछ समय और उसी घर में रहने देने के लिए सहमत न होंगे जिसे मैंने ही कितने अरमानों के साथ,कितने कष्ट सह कर बनाया था। क्या यही हैं मेरे अपने मेरे परिजन जिन्हें लाड़-प्यार से पाला था। यही सब मेरी घ्रणित काया को घर में से हटा देने के लिए, उसका अस्तित्व सदा के लिए मिटा देने के लिए क्यों आतुर हैं? मैं कल वाला ही तो हूँ।

मृत्यु के ज़रा से आघात से मेरा स्वरूप यह कैसा हो गया। अब तो मेरी मृत काया हिलती डुलती भी नहीं, बोलती, सोचती भी नहीं? अब तो उसके कोई अरमान भी नहीं है। हाय, यह कैसी मलीन, दयनीय, घिनौनी बनी जमीन पर सोई पड़ी है। अब तो यह पलंग-बिस्तर पर सोने तक का अधिकार खो बैठी है, कुशाओं बान से ढकी गोबर से लिपी गीली भूमि पर यह है। अब कोई चिकित्सक भी

इसका इलाज करने को तैयार नहीं। कोई बेटा,पोता गोदी में नहीं आता। पत्नी छाती तो पीटती है लेकिन साथ सोने से डरती है। मेरा पैसा, मेरा वैभव,मेरा सम्मान सब छिन गया, हाय हार से मैं बुरी तरह से लुट गया। मेरे अपने कहलाने वाले लोग ही मेरा सब कुछ छीन कर मुझे इस दुर्गति के साथ घर से निकाल रहें हैं। क्या ऐसी दुर्दशा कराने के लिए मैं जन्मा था ? क्या यही है मेरा अन्त? क्या यही था मेरा लक्ष्य, क्या यही है मेरी उपलब्धि। जिसके लिए कितने पुरुषार्थ किये, क्या यही है उसका निष्कर्ष ? यही हूँ मैं जो मुर्दा बना पड़ा हूँ लकड़ियों की चिता में जल कर **अगले ही क्षण अपना अस्तित्व सदा के लिए खोने जा रहा हूँ। पलक झपकते ही मेरे नाम से पहले स्वर्गीय/लेट लग जायेगा।**

लो अब पहुँच गया मैं चिता पर। लो, मेरा कोमल मखमल जैसा शरीर जिसे सुन्दर, सुसज्जित, सुगन्धित बनाने के लिए घण्टों श्रृंगार किया करता था, अब आ गया अपनी असली जगह पर। लकड़ियों के ढेर में दबाया हुआ मैं। लो यह लगी आग। लो, अब मैं जला। अरे मुझे जलाओ मत। इन खूबसूरत, हड्डियों में मैं अभी और रहना चाहता

हूँ, मेरे अरमान बहुत हैं, इच्छायें तो हजार में से एक भी पूरी नहीं हुई। मुझे उपार्जित सम्पदाओं से अलग मत करो, प्रियजनों का वियोग मुझसे सहन नहीं हो रहा । इस काया को ज़रा सा कष्ट होता था तो चिकित्सा, उपचार में बहुत कुछ करता था। इस काया को इतनी निर्दयतापूर्वक मत जलाओ। अरे स्वजन और मित्र कहलाने वाले लोगों इस अत्याचार से मुझे बचाओ। अपनी आँखों के आगे ही मुझे इस तरह जलते हुए देखते रहोगे। मेरी कुछ भी सहायता न करोगे। अरे यह क्या, बचाना तो दूर उलटे तुम्हीं मुझे आग लगा रहे हो। नहीं-नहीं, मुझे जलाओ मत, मुझे मिटाओ मत। कल तक मैं तुम्हारा था,तुम मेरे थे, आज ही क्या हो गया जो तुम सबने इस तरह मुझे त्याग दिया? इतने निष्ठुर तुम सब क्यों बन गये? मैं और मेरा संसार क्या इस चिता की आग में ही समाप्त हुआ? सपनों का अन्त-अरमानों का विनाश, हाय री चिता,हत्यारी चिता,तू मुझे छोड़। मरने का जलने का मेरा जरा भी जी नहीं है। अग्नि देवता, तुम तो दयालु थे। सारी निर्दयता मेरे ही ऊपर उड़ेलने के लिए क्यों तुल गये?

लो, सचमुच मर गया। मेरी काया का अन्त हो ही गया। स्मृतियाँ भी धुँधली हो चलीं। कुछ दिन चित्र/फोटो में मैं जीवित रहा। श्राद्धतर्पण का सिलसिला कुछ दिन चला। दो तीन पीढ़ी तक बेटे पोतों को मेरा नाम याद रहा । पचास वर्ष भी पूरे न हो पाये कि सब जगह से नाम-निशान मिट गया।

मेरी काया तक ने साथ नहीं दिया:

अब किसी को बहुत कहा जाय कि इस दुनिया में “मैं” पैदा हुआ था। बड़े अरमानों के साथ जिया था, जीवन को बहुत सँजोया, सँभाला था, उसके लिए बहुत कुछ जिया था लेकिन वह सारी भागदौड़ निरर्थक ही चली गई। मेरी काया तक ने मेरा साथ न दिया जिसमें “मैं” पूरी तरह घुल गया था। जिस काया के सुख को अपना सुख और जिसके दुःख को अपना दुःख समझा। **सच तो यह है कि “मैं” ही काया था और काया ही “मैं” था** हम दोनों की हस्ती एक हो गई थी लेकिन यह क्या अचम्भा हुआ, मैं अभी भी मौजूद हूँ। वायुभूत हुआ आकाश में “मैं” अभी भी भ्रमण कर रहा हूँ लेकिन वह मेरी अभिन्न सहचरी लगने वाली

काया न जाने कहाँ चली गई। अब वह मुझे कभी नहीं मिलेगी क्या? उसके बिना "मैं" रहना नहीं चाहता था, रह नहीं सकता था।

हाय री निर्दय नियति। तूने यह क्या कर डाला। काया चली गई। माया चली गई। मैं अकेला ही वायुभूत बना भ्रमण कर रहा हूँ। अकेले, बिल्कुल अकेले । जब काया ने ही साथ छोड़ दिया तो उसके साथ जुड़े हुए परिवारी भी क्या याद रखते, क्यों याद रखते? याद रखे भी रहे हों तो अब उससे अपना बनना भी क्या है?

मैं काया हूँ। यह जन्म के दिन से लेकर, मौत के दिन तक मैं मानता रहा। यह मान्यता इतनी प्रगाढ़ थी कि कथा पुराणों की चर्चा में आत्मा-काया की पृथकता की चर्चा आये दिन सुनते रहने पर भी गले से नीचे नहीं उतरती थी। शरीर ही तो "मैं" हूँ-उससे अलग मेरी सत्ता भला किस प्रकार हो सकती है? शरीर के सुख-दुख के अतिरिक्त मेरा सुख-दुख अलग क्योंकर होगा? शरीर के लाभ और मेरे लाभ में अन्तर कैसे माना जाय? यह बातें न तो समझ में आती थीं और न

उन पर विश्वास जमता था। अप्रतक्ष्य पर प्रत्यक्ष कैसे झुठलाया जाय? काया प्रत्यक्ष है,आत्मा दिखाई नहीं देती है, आत्मा के स्वार्थ, सुख-दुःख अलग हैं, यह बातें कहने सुनने भर की ही हो सकती हैं। सो रामायण गीता वाले प्रवचनों की हाँ में हाँ तो मिलाता रहा लेकिन उसे वास्तविकता के रूप में कभी स्वीकार न किया।

लेकिन आज देखता हूँ कि **“वह सच्चाई थी जो समझ में नहीं आई और वह झुठाई थी जो सिर पर हर घड़ी सवार रही।”** शरीर ही मैं हूँ। यही मान्यता, शराब की खुमारी की तरह नस-नस में भरी रही। बोतल पर बोतल चढ़ाता रहा तो वह खुमारी उतरती भी कैसे? पर आज आकाश में उड़ता हुआ, वायुभूत (हवा) अकेले “मैं” सोचता हूँ की मिथ्या जीवन ही जिया गया। झूठ के लिए जिया गया, झूठे बनकर जिया गया। सच्चाई आँखों से ओझल ही बनी रही।

मैं एकाकी हूँ, शरीर से भिन्न हूँ। आत्मा हूँ।

यह सुनता जरूर रहा लेकिन मानने का अवसर ही नहीं आया। यदि उस तथ्य को जाना ही नहीं, माना भी होता तो वह दुर्लभ अवसर जो हाथ से चला गया, इस बुरी तरह न जाता। जिस मूर्खतापूर्ण रीति-नीति से जीवन जिया गया वैसा न जिया जाता।

शरीर मेरा है,मेरे लिए है,मैं शरीर नहीं हूँ। यह छोटी-सी सच्चाई यदि समय रहते समझ में आ गई होती तो कितना अच्छा होता। तब “मनुष्य जीवन” जैसे सुर-दुर्लभ सौभाग्य का लाभ लिया गया होता लेकिन अब क्या हो सकता है। अब तो पश्चाताप ही बाकी रह गया है। भूल भरी मूर्खता के लिए न जाने कितने लम्बे समय तक रुदन करना पड़ेगा।

****